Shodhshauryam, International Scientific Refereed Research Journal
© 2020 SHISRRJ | Volume 3 | Issue 1 | ISSN : 2581- 6306

भारतीय लोकतांत्रिक व्यवस्था में राज्यपाल की भूमिका

अजीत कुमार
शोध छात्र, राजनीति विज्ञान
नेहरू ग्राम भारती मानित विश्वविद्यालय
इलाहाबाद

बीते दिनों एक सम्मेलन को संबोधित करते हुए राष्ट्रपति रामनाथ कोविंद ने कहा था कि ''राज्यपाल राज्य का संरक्षक और मार्गदर्शन के रूप में कार्य करता है और देश के संघात्मक ढाँचे में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।'' कई समीक्षकों ने भारत को एक सहकारी संघवाद बताया है। इसी क्रम में प्रसिद्ध विद्वान ग्रेनविल आस्टिन ने भारत की संघात्मक व्यवस्था को सहकारी संघवाद की संज्ञा दी है।

भारतीय लोकतंत्र को सुचारू रूप से चलाने के लिये संविधान में कई तरह की व्यवस्था की गयी है जिनमें से एक है, राज्यों में राष्ट्रपति शासन लगाना। संविधान के अनुसार– जब कभी किसी राज्य में संविधानिक तंत्र विफल हो जाता है या ऐसे हालात पैदा हो जाते हैं, जिसमें राज्य सरकार संविधान के अनुसार कार्य करने की स्थिति में नहीं रह जाती है तो ऐसी विषम परिस्थिति से निपटने कें लिये भारतीय संविधान के अनुच्छेद–356 के तहत राज्य में राष्ट्रपति शासन लगाये जाने का प्रावधान है।

देश के संविधान में कुछ ऐसे महत्वपूर्ण पद हैं जो सीधे तौर पर सरकार तो नहीं चलाते, लेकिन संवैधानिक तौर पर उनकी भूमिका किसी भी पद या जिम्मेदारी से बड़ी होती है। इनमें से एक पद है राज्यपाल का। 1960 के दशक में जब राज्यों में गठबंधन की राजनीतिक का उदय नहीं हुआ था, तब–तक राज्यपाल को मात्र राज्य के संवैधानिक प्रमुख के तौर पर ही जाना जाता था और कई बार इस पद को शोभा का पद मात्र कहा जाता रहा। कई पूर्व राज्यपालों ने भी इस पद को कभी ''आगन्तुकों का स्वागत करने वाला पद'' बताया तो कभी ''सोने के पिंजरे में बन्द पक्षी'' का नाम दिया।

लेकिन बदलते राजनीतिक परिदृश्य में राज्यपाल की भूमिका मजबूत होती चली गयी। राज्यपाल पद की भूमिका तब और महत्वपूर्ण हो जाती है जब, राज्य राजनीतिक अस्थिरता की स्थिति में हो। क्योंकि, ऐसी स्थिति में ही राज्यपाल के विवेक की असली परीक्षा होती है और कई बार राज्यपालों की ओर से लिये गये निर्णय व फैसले चर्चा और विवाद के विषय रहे व कई बार राज्यपालों के फैसलों ने संवैधानिक प्रावधानों की नयी–नयी व्याख्याएँ प्रस्तुत की।

विगत परिस्थितियों की बात करें तो महाराष्ट्र व कर्नाटक में जो राजनीतिक हालात उभरे हैं उसके बाद से ही राज्यपाल की भूमिका एक बार फिर आलोचना का विषय बन गयी है। इन्हीं क्रम में महाराष्ट्र के राज्यपाल द्वारा की गयी कार्यवाही ने देश में राज्यपाल के पद को जाँच के दायरे में ला दिया है। महाराष्ट्र में मुख्यमंत्री द्वारा ली गयी शपथ और बहुमत सिद्ध करने से पूर्व स्तीफे के पूरे घटनाक्रम में राजभवन विवाद का केन्द्र बना रहा।

विचारणीय है कि इसी वर्ष के प्रारम्भ में कर्नाटक विधानसभा चुनावों के बाद कर्नाटक के राज्यपाल द्वारा की गई कार्यवाही को भी विवेकाधीन शक्तियों के पहलुओं पर न्यायिक जॉच के दायरे में माना गया था। क्योंकि, कर्नाटक विधानसभा चुनाव में किसी भी दल को बहुमत नहीं मिला। भाजपा 104 सीटों के साथ सबसे बड़ी पार्टी बनी, तो कांग्रेस को 78 और J.D.S. को 38 सींटे मिली। सरकार बनाने के लिये कम से कम 113 सीटों की आवश्यकता थी। पर्याप्त संख्या बल न होने के बावजूद भाजपा ने सरकार बनाने का दावा किया, तो वहीं कांग्रेस के समर्थन के बाद J.D.S. के कुमारस्वामी ने गठबंधन की सरकार बनाने के लिये राज्यपाल से मुलाकात की। अन्ततः राज्यपाल वजुभाईवाला ने अपने स्वविवेक से लिये गये निर्णय में सबसे बड़े दल के रूप में भाजपा को सरकार बनाने के लिये आमंत्रित किया और बहुमत साबित करने के लिये 15 दिन का समय दिया और 17 मई की सुबह बी0एस0 योद्वियुरप्पा को मुख्यमंत्री की शपथ दिलायी गयी। राज्यपालों की राजनीतिक भूमिका को लेकर भारतीय इतिहास के पन्ने भरे पड़े हैं। लम्बे अरसे तक राजभवन राजनीति के अखाड़े बने रहे हैं। दशकों से राज्यपाल के पद का इस्तेमाल राज्य की सत्ता बनाने और बिगाड़ने के लिये किया जाता रहा है।

ऐसे ही कुछ उदाहरण है जिनमें वर्ष 1998 में उत्तर प्रदेश में कल्याण सिंह के नेतृत्व वाली सरकार थी। 21 फरवरी को राज्यपाल रोमेश भण्डारी ने सरकारी को बर्खास्त कर दिया। नाटकीय घटनाक्रम के बीच जगदंबिका पाल को मुख्यमंत्री पद की शपथ दिलायी गयी। कल्याण सिंह ने इस फैसले को इलाहाबाद उच्च न्यायालय में चुनौती दी, कोर्ट ने राज्यपाल के इस फैसले को असंवैधानिक करार दिया और कल्याण सिंह फिर से मुख्यमंत्री बने।

इसी क्रम में, वर्ष 2005 में बिहार के राज्यपाल बूटा सिंह के द्वारा विधान सभा का भंग किया जाना और सर्वोच्च न्यायालय द्वारा राज्यपाल के फैसले को असंवैधानिक बताया जाना भी था। और वर्ष 2005 में ही झारखण्ड के राज्यपाल सैयद सिब्ते रजी के स्वविवेक का निर्णय भी चर्चा का विषय बना रहा।

वर्ष 1983–1984 के बीच आंध्र प्रदेश के राज्यपाल ठाकुर रामलाल द्वारा एन0टी0 रामाराव की बहुमत प्राप्त सरकार को बर्खास्त किया जाना और पुनः नव नियुक्त राज्यपाल शंकर दयाल शर्मा द्वारा आंध्र प्रदेश की सत्ता एन0टी0 रामाराव के हाथों में सौंपा जाना भी राजनीतिक गलियारे में आलोचना का विषय बना।

एस0आर0 बोम्मई अगस्त 1988 से अप्रैल 1989 के बीच कर्नाटक में जनता दल की सरकार के मुख्यमंत्री थे। लेकिन अप्रैल 1989 में केन्द्र की कांग्रेस सरकार ने संविधान के अनुच्छेद 356 के तहत उनकी सरकार को बर्खास्त कर दिया और राज्य में राष्ट्रपति शासन लगा दिया और बोम्मई सरकार को इस आधार पर बर्खास्त किया गया कि उनकी सरकार ने सदन में बहुमत खो दिया है तथा तत्कालीन राज्यपाल पी0 वेंकट सुबैया ने उन्हें

विधानसभा में बहुमत साबित करने का अवसर देने से इन्कार कर दिया। बोम्मई राष्ट्रपति शासन की सिफारिश करने के राज्यपाल के फैसले के खिलाफ अदालत गये लेकिन कर्नाटक उच्च न्यायालय ने उनकी याचिका खारिज कर दी। इसके बाद बोम्मई ने माननीय सर्वोच्च न्यायालय की शरण ली।

एस0आर0 बोम्मई बनाम यूनियन ऑफ इंडिया (1994) के ऐतिहासिक फैसले में माननीय सर्वोच्च न्यायालय ने अनुच्छेद 356 और इससे जुड़े विभिन्न प्रावधानों पर विस्तार से चर्चा की थी और अनुच्छेद 356 के दुरूपयोग को इस फैसले के द्वारा रोक दिया गया। इस मामले के द्वारा केन्द्र राज्य सम्बन्धों पर भारी व व्यापक प्रभाव पड़ा तथा सर्वोच्च न्यायालय के 9 सदस्यीय संविधान पीठ के बहुमत द्वारा लिया गया यह निर्णय संविधान के अनुच्छेद 356 के प्रयोग में प्रकाश स्तम्भ का कार्य करता है तथा नजीर माने जाने वाले इस निर्णय में सर्वोच्च न्यायालय ने 7 प्रमुख दिशा निर्देश दिये–

''किसी भी राज्य सरकार के बहुमत का फैसला राजभवन की जगह विधान मण्डल में होना चाहिये। राष्ट्रपति शासन लगाने से पहले राज्य सरकार को शक्ति परीक्षण का अवसर देना होगा।''

अनुच्छेद 356 (1) के तहत राष्ट्रपति शासन की उद्घोषणा न्यायिक समीक्षा के योग्य है तथा न्यायालय समीक्षा कर सकती है कि, राष्ट्रपति शासन की घोषणा क्या किसी सामग्री पर आधारित है और क्या वह सामग्री प्रासंगिक है। व चुनौती दिये जाने की दशा में यह जिममेदारी केन्द्र की है कि वह संबंधित सामग्री की प्रासंगिकता सिद्ध करें।

अनुच्छेद 74(2) के तहत राष्ट्रपति के समक्ष सामग्री की जाँच–पड़ताल पर कोई अपरिवर्तनीय निर्णय नहीं ले सकते, जब तक कि राष्ट्रपति शासन की उद्घोषणा को संसद अपनी मंजूरी न प्रदान कर दें तथा यदि अदालत उद्घोषणा को अवैध पाती है तो उसे पूर्व स्थिति बहाल करने का अधिकार है भले ही संसद ने उद्घोषणा को अपनी मंजरी प्रदान कर दी हो। न्यायालय के पास अंतरिम राहत देने का भी अधिकार है अर्थात वह नये चुनावों पर रोक लगा सकती है और पंथनिरपेक्षता संविधान के मूल ढ़ाँचे का एक अंग है।

बोम्मई जजमेंट का असर तब देखने को मिला था जब 1997 और 1998 में तत्कालीन राष्ट्रपति के0आर0 नारायणन ने धारा 356 के प्रयोग से उत्तर प्रदेश व बिहार की सरकारों को बर्खास्त करने के केन्द्र के प्रस्ताव को वापस भेज दिया था तथा बोम्मई जजमेंट के बाद विधान सभाओं को भंग करने का सिलसिला तो लगभग खत्म हो चुका है, लेकिन राज्यपालों के माध्यम से अपनी पसंद की सरकार बनवाने का प्रयास केन्द्र की तरफ से जारी है।

केन्द्र राज्य सम्बन्धों में सुधार हेतु सुझाव देने के लिये समय–समय पर सरकार द्वारा विभिन्न आयोगों व समितियों का गठन किये गये थे, जिनमें राज्यपाल की नियुक्ति एवं भूमिका के सन्दर्भ में भी महत्वपूर्ण सुझाव दिये गये हैं। जिनमें प्रशासनिक सुधार आयोग (1966) के द्वारा राज्यपाल के पद से संबंधित यह सुझाव दिया गया कि, उसी व्यक्ति को राज्यपाल के पद पर नियुक्त किया जाना चाहिये जिसे सार्वजनिक जीवन एवं प्रशासन का अनुभव हो और जो अपने आपको दलीय पूर्वाग्रहों से मुक्त रखता हो और राज्यपाल की नियुक्ति के संबंध में सम्बन्धित राज्य

के मुख्यमंत्री से परामर्श किया जाना चाहिये तथा 1970 में गठित भगवान सहाय समिति के द्वारा यह सुझाव दिया गया कि, किसी मंत्रिमण्डल को बहुमत का विश्वास प्राप्त है या नहीं इस बात का निर्णय राजभवन में नहीं बल्कि विधानसभा में ही किया जाना चाहिये तथा राजमन्नार समिति (1969) के द्वारा यह सुझाव दिया गया कि, विधानसभा में किसी एक दल को स्पष्ट बहुमत प्राप्त न हो तो राज्यपाल को विधानसभा का अधिवेशन बुलाना चाहिये और अधिवेशन में बहुमत से चुने गये व्यक्ति को मुख्यमंत्री नियुक्त करना चाहिये। आगे इसी क्रम में 1983 में गठित न्यायमूर्ति रंजीत सिंह सरकारिया की अध्यक्षता में सरकारिया आयोग जिसे प्रथम राष्ट्रीय आयोग के नाम से भी जाना जाता है जिन्होंने 1988 में अपनी सिफारिश केन्द्र को दी जिसमें कहा गया कि, राज्यपाल पद पर समाज के विभिन्न गणमान्य व्यक्तियों को ही नियुक्त किया जाना चाहिये और नियुक्ति के सन्दर्भ में संबंन्धित राज्य के मुख्यमंत्री से विचार विमर्श कर लिया जाना चाहिये।

2007 में गठित पुंछी आयोग का भी यह सुझाव था कि, अनुच्छेद–356 के दुरूपयोग को रोकने के लिये सीमित अवधि व सीमित क्षेत्र के लिये स्थानीय आपात लागू किया जाना चाहिये। तमिलनाडु सरकार ,ारा 1969 में गठित राजमन्नार कमेटी के द्वारा यह सिफारिश की गयी कि, इस संवैधानिक प्रावधान को तत्काल निरस्त कर देना चाहिये कि, मंत्रिपरिषद राज्यपाल के प्रसादपर्यन्त पद धारण करेगी। तथा राज्यपाल के पद पर सेवा प्रदान कर चुके व्यक्ति को केन्द्र अथवा राज्य सरकार के अधीन पुनः सेवा में नहीं लेना चाहिये। लेकिन केन्द्र सरकार के द्वारा इसकी संस्तुतियों को स्वीकार नहीं किया गया।

निष्कर्ष :– यह स्वतः स्पष्ट है कि भारतीय राजनीतिक व्यवस्था व संविधान के अन्तर्गत यदि किसी पद की गरिमा को सर्वाधिक आघात पहुँचा है तो, वह पद निर्विवाद रूप से राज्यपाल का ही पद है। जो लम्बे समय से विवादास्पद रहा लेकिन फिर भी इस पद के दायित्वों के निर्वहन हेतु अभी तक कोई सार्वभौमिक दिशा निर्देश नहीं बनाया जा सका और न ही भविष्य में उत्पन्न होने वाली सभी स्थितियों के लिये कोई 'पूर्ण निर्देश पत्र' तैयार नहीं किया जा सकता। वास्तव में, राज्यपाल पदधारी का स्वविवेक ही उनका इस सम्बन्ध में सर्वोच्च निर्देश हो सकता है।

राज्यों की राजनीतिक व्यवस्था व राजनीतिक संस्थाओं का यदि सफल संचालन करना है तो राज्यपाल को समय–समय पर गठित विभिन्न आयोगों व समितियों द्वारा दिये गये सुझावों तथा माननीय सर्वोच्च न्यायालय के महत्वपूर्ण निर्णय जिन्होंने राज्यपाल की विवेकाधीन शक्तियों को आकार दिया, जिनमें सबसे महत्वपूर्ण निर्णय 11 मार्च 1994 को एस0आर0 बोम्मई बनाम भारत संघ के वाद में दिया गया ऐतिहासिक फैसला जो राज्यों में सरकारें भंग करने की केन्द्र सरकार की शक्ति को कम करता है, को ध्यान में रखना चाहिये। वर्ष 1970 में गठित राजमन्नार समिति की सिफारिशों को लागू किया जाना चाहिये और राज्यपालों की नियुक्ति प्रक्रिया में राज्यों को भी शामिल किया जाना चाहिये। उल्लेखनीय है कि केंद्र–राज्य समीकरणों में असंतुलन को दूर रखने की शुरूआत इस तरह के सुधार से की जा सकती है। राज्यपालों द्वारा लिये गये निर्णयों को न्यायिक जाँच के अधीन लाया जाना चाहिये जिसमें उस निर्णय तक पहुँचने के लिये प्रयोग किये गए स्रोत भी शामिल हों। राज्यपाल के कार्यालय से जुड़ी

शक्तियाँ और विशेषाधिकार जवाबदेही तथा पारदर्शिता के साथ संलग्न होने चाहिये। राज्यपाल को अपने दायित्वों का सफलतापूर्वक निर्वहन करने में सक्षम बनाने कें लिए राज्य सरकारों, केन्द्र सरकार, संसद और राज्य विधानसभाओं द्वारा अनुमोदित एक सहमत आचार संहिता विकसित की जानी चाहिये। राज्यपाल की विवेकाधीन शक्तियों पर अंकुश लगाया जाना चाहिये और मुख्यमंत्री की नियुक्ति को लेकर उचित दिशा निर्देश होने चाहिये। इसमें कोई संदेह नहीं कि राज्यपालों की नियुक्ति और उनके कार्यकाल से संबंधित प्रावधानों में बड़े सुधारों की आवश्यकता है। यद्यपि इन सबके होते हुये भी राज्यपाल का तटस्थ व स्वविवेकपूर्ण निर्णय ही सर्वोपरि होगा।

संदर्भ–

1. प्रभुदत्त शर्मा तथा नीलम सूद, केन्द्र–राज्य सम्बन्ध, प्रशासन के परिप्रेक्ष्य में, जयपुर, 1996
2. एस0के0 मजूमदार और भंवर सिंह, भारत में केन्द्र–राज्य सम्बन्ध, आर0बी0 एस0ए0 पब्लिशर्स, 2000
3. बी0बी0 तायल, भारतीय राजनीतिक व्यवसथा, सुल्तान चन्द एण्ड सन्स, नई दिल्ली, 2000
4. मोहनलाल अवस्थी, केन्द्र–राज्य सम्बन्ध संवैधानिक परिप्रेक्ष्य में क्रियात्मक आयाम एवं उभरते ज्वलंत प्रश्न, उदयपुर, 2000
5. मणिशंकर प्रसाद, भारत में सहकारी संघवाद केन्द्र और राज्यों के दृष्टिकोण, लोकतंत्र समीक्षा सांविधानिक तथा संसदीय अध्ययन संस्थान, नई दिल्ली, 1988
6. सत्यप्रकाश मालवीय, केन्द्र–राज्य सम्बन्ध, राज्यपाल की भूमिका, लोकतंत्र समीक्षा, सांविधानिक तथा संसदीय अध्ययन संस्थान, नई दिल्ली, 1995
7. प्रभुदत्त शर्मा : केन्द्र–राज्य सम्बन्ध : प्रशासन के परिप्रेक्ष्य में, राजस्थान, हिन्दी ग्रंथ अकदामी, जयपुर, 1976
8. सती साहनी सेन्टर स्टेट रिलेसन, विकास पब्लिसिंग हाउस, नई दिल्ली, 1984
9. जयनारायण लाल, भारत की संघीय व्यवस्था में राज्यपाल की भूमिका, सांविधानिक अध्ययन संस्थान, नई दिल्ली, 1984
10. दैनिक जागरण सम्पादकीय लेख, 2019